अंतिम क्षण में जनतंत्र

प्रफुल्ल कोलख्यान

जनता पर जादू चला राजे के समाज का ।
लोक-नारियों के लिए रानियाँ आदर्श हुईं।
धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर।
खून की नदी बही।
आँख-कान मूँदकर जनता ने डुबकियाँ लीं।
आखें खुलीं – राजे ने अपनी रखवाली की ।

\- निराला

साहित्य की आखँ में सामाजिक सपना उगता-उतराता रहता है। एक बेहतर समाज का सपना। ऐसा सपना जहाँ सुख ही नहीं दुख भी मनोरम होता है। दुख मनोरम होकर ही सहनीय बन पाता है। ऐसा सपना जिस के संघर्ष में आस्वाद भी होता है। ऐसा सपना जिस में लोग दूसरे को मारने के लिए नहीं दूसरे के हित में मरने तक के लिए मानसिक रूप से तैयार होते रहते हैं। ऐसा सपना जिसकी सड़कें चाहे जितनी चौड़ी हो, गलियाँ चाहे जितनी पतली हो, दिन के समय की बदली चाहे जितनी घनी हो लेकिन किसी रामदास को उदास कर देनेवाली किसी खबर के स्रोत के लिए जिसमें कोई स्थान नहीं होता है। साहित्य अपने सपनों में शैवालों की उस हरी दरी को बुनता रहता है जिस पर छिड़नेवाला हर कलह अंतत: प्रणय-कलह हो जाता है। ऐसा सपना जिसके उल्लास की अरुणाभ परिधि में प्रकृति और संस्कृति, एक दूसरे के लिए

अबूझ कूट पहेली नहीं एक दूसरे के सुख-दुख, राग-विराग को समझ सकनेवाली सरल सहेली बनकर, एक दूसरे के भीतर समायी रहती है, जैसे माघ के पोखरे के पानी के अँकवार में तारों भरा आकाश समाया रहता है। ऐसा सपना जिसमें मित्र रोये तो एक दूसरे के कंधे पर सिर टिकाकर हँसे तो एक दूसरे की आँख में दोहरा होकर। ऐसा सपना जिसमें गदराया हुआ समय आस-पास हो। ऐसा सपना जिस में संभावनाएँ आम्र-मंजरियों की तरह अपने होने मात्र से जीवन को सुरभित कर दें। ऐसा सपना जिसमें बाँसुरी की तरह सुरीली रात शरद पूर्णिमा की तरह धवल हो। ऐसा सपना जिसमें प्रात चैत की तरह निर्मल हो। ऐसा सपना जिसमें साँझ सभ्यता के शरीर पर आँचल की तरह लिपटी हो। ऐसा सपना जिसमें दिन पखावज की तरह मंद्र हो। साहित्य में यह सपना तब उतरता है जब जीवन में सपना और सपना में जीवन हो। कुंभ में जल और जल में कुंभ की तरह, जीवन के बाहर भीतर सपना हो। जीवन और सपना में अबाध आवाजाही की सुगम्य, सुरम्य और सुरमय सुविधा हो। यह सपना तभी आकार पाता है जब सारी संपत्ति देश की हो और सारी विपत्ति भी देश की हो, जनता जातीय वेश की हो। समाज में यह स्थिति जनतंत्र ही रच सकता है, जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्राणत्व को तंतुबद्ध करनेवाला जनतंत्र। खतरे में समाज है। खतरे में जनतंत्र है। खतरे में सपना है। खतरे में साहित्य है। खतरे में जीवन है। हमारे सपनों को भ्रष्ट किया गया है। सपना देखनेवाली आँख को ही फोर देने की तैयारी की जा रही है। संकट में पड़े सपनों को सजाना होगा। जीवन के संकट को समझना होगा। धरती को ध्वंस से बचाना होगा।

संकट है तो जीवन में संकट का असर भी है और शोर भी है। शिकारी आ चुका है। जाल बिछा चुका है। दाना डाल चुका है। फिलहाल भूखी आँखों में दानों की चमक अगाध नीर के मीन की तरह मचल रही है। कुछ थोड़े लोग हैं जो जाल की डोरी को भी देख रहे हैं और दहशत में हैं। जिनकी आँख में दाना की चमक भरी है वे पड़ोसी की आँख में डेरा डाल चुके डर के निहितार्थ को पढ़ नहीं पा रहे हैं। ऐसे लोगों को लगता है, संकट तो है लेकिन बार-बार संकटों की बात करना अच्छा नहीं है। इस तरह की बातों से लोगों का दिल और दुखी होता है। अँधेरा और गहन होता है। दिल और उदास हो जाता है। उदासी एक संक्रामक मनोरोग है। शायद इसीलिए विवेकानंद ने किसी संदर्भ में हिदायत दी थी कि जिस दिन मन उदास हो उस दिन घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए। क्या आज भी उदासी एक संक्रामक मनोरोग रह गई है? आज अधिकतर लोग किसी और की बात को दिल पर लेते ही नहीं हैं। चाहे उस बात का संबंध उनके निजी हित के सार्वजनिक प्रसंग से ही क्यों न हो। ऐसी स्थिति में किसी और के मन की उदासी के किसी और के मन में घर कर जाने का खतरा ही कहाँ है! जब संकट है तो संकट पर बात न की जाये तो क्या किया जाये! काश कि इस तरह की बात को कोई अपने दिल पर लेता। सभ्यता के संकट के कई कारणों और लक्षणों में एक कारण और लक्षण यह भी है।

सभ्यता का यह संकट कोई एक दिन में पैदा नहीं हुआ है। आज स्वतंत्रता और समृद्धि को एक दूसरे के व्याघाती के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। इस सभ्यता में, दोनों में किसी एक को ही चुनने की छूट है। हम भूलते गये हैं कि स्वतंत्रता अपने-आप में बहुत बड़ी समृद्धि है। स्वतंत्रता या समृद्धि के विकल्प में हम समृद्धि को बेझिझक होकर चुनने के लिए बहुत उत्साही प्रतीत हो रहे हैं और गुलामी की जंजीरों को जेवर साबित करने का तर्क गढ़ रहे हैं। क्या यह सच है कि हम गुलाम बनने को उतारू हो रहे हैं? नहीं यह पूरा सच नहीं है। मनुष्य का स्वतंत्रता प्रेम अभी बचा हुआ है। यही आशा की किरण है। मनुष्य इस संकट का सामना सफलतापूर्वक कर सकता है। दिन फिर हरे हो सकते हैं। क्योंकि यह स्थिति कोई पहली बार प्रकट नहीं हुई है और न पहली बार ही मनुष्य इतना अश्वथकित है। मनुष्य में इस तरह के संकट का मुकाबला करने का हौसला भी है और हुलास भी।

यह कोई बिल्कुल नई स्थिति नहीं है। हर पुरानी स्थिति के कोण में एक नयी नोक भी होती है। इस कोण के नुकीलेपन को बेअसर या कम-असर करने के लिए इसके संदर्भों को समझना जरूरी है। इस कोण और नोक को समझने के लिए मानव विकास रिपोर्ट-2002 के कुछ निष्कर्षों के आशयों का उल्लेख आवश्यक है। इस रिपोर्ट की चिंता का केंद्रीय विषय है, आत्म-विभक्त दुनिया में लोकतंत्र की दुरवस्था। इस रिपोर्ट के एक निष्कर्ष का आशय है कि आर्थिक, राजनीतिक और तकनीक ज्ञान के परिणाम के मुद्दे पर दुनिया कभी भी इतनी आजाद नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण थी। इस सभ्यता के लिए कितने खतरनाक हैं इसके संकेत? क्या इस निष्कर्ष के संकेत यह हैं कि आर्थिक, राजनीतिक और तकनीक ज्ञान की वर्तमान प्रक्रिया के माध्यम से दुनिया जितनी आजाद होती जायेगी उतनी ही अन्यायपूर्ण भी होती जायेगी! क्या आजादी अन्याय का पोषक हुआ करती है? क्या अन्यायपूर्ण दुनिया को एक ही साँस में आजाद भी कहा जा सकता है? इस निष्कर्ष में एक विरोधाभास झलकता है। दुनिया के आत्म-विभक्त होने के सच को ध्यान में रखने से इस निष्कर्ष के आशय में कहीं कोई विरोध नहीं मिलता है। इस बँटी हुई दुनिया के एक बड़े भाग में वे थोड़े-से लोग रहते हैं जिनके पास बहुत कुछ है। दूसरे भाग में वे बहुत सारे लोग रहते हैं जिनके पास जीने की बुनियादी जरूरतों के हिसाब से बहुत कम है। थोड़े लोगों के बड़े भागवाली दुनिया आज जितनी आजाद और निर्बंध पहले कभी नहीं थी। बहुत लोगों के छोटे भागवाली दुनिया आज जितनी अन्यायपूर्ण पहले कभी नहीं थी। आर्थिक, राजनीतिक और तकनीक ज्ञान की वर्तमान प्रक्रिया इस बड़े भाग की आजादी और न्याय के लिए न्यूनतम मानवीय सम्मान नहीं रखती है। विकास की चालू प्रक्रिया के जारी रहने से दुनिया को बाँटनेवाली यह खाई बढ़ती ही जायेगी। आर्थिक, राजनीतिक और तकनीक ज्ञान के विकास की वर्तमान प्रक्रिया के पक्षधर भी इस खाई से भयभीत हैं। यह दीगर बात है कि लोभ पीछा ही नहीं छोड़ता। लोभ है, इस प्रक्रिया के अंतर्गत भोग के अनंत अवसर के हासिल होने का। भय है, कि थोड़े दिनों के लिए भले ही ऊपर-ऊपर सब कुछ शांत दिखे लेकिन लोगों के

अंतर्मन में विन्यस्त न्याय और बराबरी के सपने की आंतरिक सक्रियता का संघर्षशील भाव, संगठित होकर सभ्यता को संघात के 'बर्बर चौमुहाने' पर कभी भी ले आकर पटक सकता है। उनको डर है और सही डर है कि न्याय और बराबरी की मौलिक मानवीय आकांक्षा को कुछ दिनों तक ही बहलाया जा सकता है, सदैव नहीं। वे जानते हैं और बेहतर जानते हैं कि बर्बरता का प्रति-उत्पाद बर्बरता ही होती है। विकास की चालू प्रक्रिया के गर्भ-आशय में भोग की बर्बरता का दैत्य पलता है तो इस प्रक्रिया के प्रतिरोध की प्रक्रिया के गर्भ-आशय में संहार की बर्बरता का दैत्य ही पलेगा। साम्राज्यवादी विकास की वक्रता से आतंकवाद का जो तर्क बनता है उसके फलितार्थ में यदि साम्राज्यवाद के नायक चर्चिल और कनेडी को बुश और ब्लेअर आदि में बदल देता है तो उसके प्रतिरोध के नायक भी, गाँधी को तो छोड़िये ही, गैरिबाल्डी और भगत सिंह न होकर लादेन और प्रभाकरण आदि ही बनते हैं। वे जानते हैं और सही जानते हैं कि किसी भी रूप में यह अच्छा नहीं होता है। वे जानते हैं कि कोई भी युद्ध और खासकर, सभ्यता एवं संस्कृति को दुष्प्रभावित करनेवाला युद्ध शुरू तो होता है न्याय और अन्याय के बीच लेकिन जारी रहता है, सिर्फ अन्याय और अन्याय के बीच ही। युद्ध अपने आप में ही बर्बर और न्यायहीन होता है। पूरी सभ्यता अवसन्न है एक अजाने विश्व-गृह-युद्ध के आसन्न होने की आशंका से।

सच है कि लोभ और भय के इस द्वंद्व में फिलहाल लोभ का पलड़ा भारी है। इसलिए, साम्राज्यवाद के विश्व नेता के मन में इस प्रक्रिया के सीमित प्रतिरोध का भी नैतिक साहस नहीं जुटता है। यह दुनिया आत्म-विभक्त ही नहीं एकीकृत भी है। आत्म-विभक्त है हितों के सम्यक वितरण के संदर्भ में और एकीकृत है हित-हरण के लिए अनिवार्य दमन के संदर्भ में। मानव विकास रिपोर्ट - 2002 में ठीक ही रेखांकित किया गया है कि 'लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में जनतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। हाल के दिनों में औद्योगिक और विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में भूमंडलीकरण विरोधी अभियान में यह नया यथार्थ उभर कर सामने आया है। हलांकि, इनके विभिन्न रूप हैं और विभिन्न कार्यसूचियाँ हैं फिर भी एक बात पर इनमें साम्य है कि विश्व के गरीब लोगों की समस्याओं के लिए विश्व संस्थाएँ और विश्व नेता जबावदेह हैं। इसे विपत्तिजनक समस्या माननेवाले ये विरोधी अकेले नहीं हैं।'

जो दुनिया में है, वही अपने देश में भी है। अमीरों और गरीबों के जीवन के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है। इस गहरी होती खाई में क्रूरता के भयानक नुस्खे और जंतु विकसित हो रहे हैं। जिन देशों में जनतंत्र के विकास को गहरे लोक संघर्ष का अपना सुदीर्घ जीवंत अनुभव है उन देशों के जनतांत्रिक ढाँचों में जनतंत्र की अंतर्वस्तु का कुछ अंश अभी बचा हुआ हो सकता है। यह बचा हुआ अंश कुछ दिनों तक इस खाई के आर-पार होने के लिए कामचलाऊ

रस्सी-पुल के लिए तार उपलब्ध करवाने का काम अभी करता रह सकता है। इस काम से वहाँ जनतंत्र अक्षत प्रतीत हो सकता है। इसलिए उन देशों में इतमीनान के लिए अभी थोड़ी-सी गुंजाइश भी बची हो सकती है। ऐसे जनतांत्रिक देशों की तुलना में देखें तो, हमारी स्थिति में इस तरह के इतमीनान की गुंजाइश बहुत तेजी से छीजती जा रही है।

अपने स्वतंत्रता संघर्ष और आंदोलन के प्रति निष्कंप आदर का भाव रखते हुए भी इतना तो स्वीकारना ही चाहिए कि उस महान स्वतंत्रता संघर्ष और आंदोलन के दौरान विकसित सामाजिक और मानवीय मूल्यों को जीवन-व्यवहार में निरंतर अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए जिस मजबूत राजनीतिक गर्भ-बासन में उसे रखने की जरूरत थी, उस मजबूत राजनीतिक गर्भ-बासन को विकसित करने में कहीं-न-कहीं हम चूक जरूर गये हैं। हमने उन मूल्यों को जिस बासन में रखा वह अंतत: कच्चा घड़ा ही साबित हुआ। यह भी भुला ही दिया गया कि हमारी स्वतंत्रता भौगोलिक रूप से ही नहीं राजनीतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय रूप से भी खंडित और अधूरी है। इस अधूरेपन को भरने का सतत जारी रहनेवाला बड़ा और असली काम 15 अगस्त 1947 को ठीक आधी रात को पूरा हो गया, ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं हो सकता है। ऐसे काम को सिर्फ तंत्र के भरोसे कभी पूरा नहीं किया जा सकता है। यह सच है कि जन का जाग्रत अंश, जो तब जनतंत्र की स्वाभाविक आकांक्षा के अनुसार तंत्र से अवयवित हो गया था, प्रारंभ के उत्साह में इस महती कार्य को तंत्र के भरोसे ही हो जाने की आसक्ति का शिकार बन गया। इस कार्य के संपादन के लिए, सपनों को धरती पर उतराने के लिए समय की जरूरत थी। ऐसा और इतना समय जिस में जन धीरज रखकर तंत्र को टोके-टाके बिना अपना काम करने दे। यह तभी संभव था जब तंत्र पर भरोसा करते हुए साकार किये जानेवाले सपनों का आनंद जन सपनों में ही लेता रहे, यथार्थ की दुनिया में उसकी तलाश की प्रक्रिया को फिलहाल स्थगित रखे। इसके लिए जिस राजनीतिक मोह निशा को निमंत्रित किया गया उस मोह निशा में नींद तो बहुत गहरी थी, लेकिन स्वप्न धीरे-धीरे बहुत छिछले होते चले गये। इतना ही नहीं इस निमंत्रित मोह निशा की नींद अंतत: स्वप्न-भक्षी ही साबित हुई। इसके दुष्प्रभाव से, जन को व्यापक जन-जीवन से जोड़कर सब को अपने परिवृत्त में समेटनेवाले सामाजिक-वलय को सुदृढ़ बनानेवाली, राजनीतिक प्रक्रिया के पूरी तरह ठप्प हो जाने का फिलतार्थ हमारे आज के राष्ट्रीय जीवन का दुखद जनतांत्रिक यथार्थ है। राजनीतिक प्रक्रिया का विकास सामाजिक विकास की सचेत प्रक्रिया के सहमेल में न होकर सत्ता और शासन पर पकड़ बनाये रखने की आकांक्षा से ही सीमित होता चला गया। ऐसे में, 'हम भारत के लोग' के जिस 'हम' ने संविधान को आत्मार्पित किया था वह 'हम' खंडित का खंडित ही रह गया। इस 'हम' को हासिल करने के लिए हमारा देश स्वतंत्रता की अधूरी परियोजनाओं को पूरी करने के लिए नये परिप्रेक्ष्य में नये दलन और दोलन के सम्मुख खड़ा है। इस दलन और दोलन के गर्भ से एक नया आंदोलन जन्म ले रहा है। अपने समय से संवाद करने के लिए इस आंदोलन के आगमन की पगध्वनि

को कान धरकर ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। क्या सुन पा रहे हैं हम? या वैसे ही नहीं सुन पा रहे हैं जैसे सुन नहीं पाते हैं अंडा के फूट कर चूज्जा के निकलने की आवाज! इस विकास प्रसंग ने हमारी संवेदना को भोथरा किया है। नि:शबद चीख में ठीक ही कहते हैं अरुणकमल कि इस तेज बहुत तेज चलती पृथ्वी के अन्धड़ में, जैसे मैं बहुत सारी आवाज नहीं सुन रहा हूँ/ वैसे ही तो होंगे वे लोग भी जो सुने नहीं पाते गोली चलने की आवाज ताबड़तोड़/ और पूछते हैं - कहाँ है पृथ्वी पर चीख। विकास के बनाये नेपथ्य में हँसी को पढ़िये, पूछते हैं राजेश जोशी युद्ध में बार बार घाव पर घाव सहते/ क्या कम जर्जर हुई है पृथ्वी?/ कीड़ों मकोड़ों और चूहों ने कम खाया है इस पृथ्वी को। लेकिन, इसी धरती पर धीरे से धरिये कान तो सुनाई देगी वह आवाज जो यमराज के भैंसे से डरे बिना चलनेवालों के पदाघात से दिन-रात उपज रही है।

ध्यान देने की बात यह है कि मानव विकास रिपोर्ट-2002 में दुनिया के जिस रूप में 'आत्म-विभक्त' और साथ ही 'एकीकृत' होने की बात कही गई है, आत्म-विभाजन और एकीकरण के उस रूप को सिर्फ राष्ट्रों की सीमारेखाओं के संदर्भों से सीमित कर नहीं समझा जा सकता है। इस स्थिति को विदेशी-स्वदेशी के पुराने नारे से भी नहीं समझा जा सकता है। विदेशी-स्वदेशी को पुनर्परिभाषित करने की जरूरत है। हमारा अनुभव बताता है कि जनतंत्र का आंतरिक आत्म-विभाजन कहीं अधिक खतरनाक होता है। बल्कि, सच कहा जाये तो पहली बड़ी चुनौती तो अपने जनतंत्र को इस आत्म-विभाजन के खतरे से बाहर निकालना ही है। यह चुनौती कठिन इसलिए है कि राष्ट्रों के जनतंत्र को आत्म-विभक्त करने और अपना-अपना स्वार्थ साधने में भीतरी और बाहरी शक्तियाँ मिलकर काम कर रही है। भीतरी शक्तियाँ कुत्सित राष्ट्रवाद और प्रादेशिकतावाद का ऐसा जंजाल फैला रही है कि समुज्वल राष्ट्रवाद के सारे संदर्भ इस जंजाल से आच्छादित होकर व्यर्थ हो जाते हैं। इस दुष्चक्र में फँसने के कारण राष्ट्रवाद का असली और कार्यशील संदर्भ उभर ही नहीं पाता है और जनतंत्र के आत्मविसर्जन का ही मार्ग प्रशस्त होता जाता है।

आज का हमारा सामाजिक समय घनघोर असामाजिकताओं की जकड़न में फँसा हुआ है। हर तरफ गिरावट ही गिरावट है। सामाजिक मूल्य और सरोकार अपना अर्थ या तो खो चुके हैं या खोते जा रहे हैं। एक गहरी उदासीनता में डूबे हुए तदर्थवाद की सामाजिक मन:स्थिति के कारण लुटी-पिटी, पराजित मानसिकता का दुष्प्रभाव भी बढ़ता जा रहा है। जीवन-संघर्ष कठिनतर हो गया है। संघर्ष; सकारात्मक आत्म-संघर्ष और सामाजिक-संघर्ष शिथिल तथा संवाद; निश्छल आत्म-संवाद और सामाजिक-संवाद संवेदनाच्युत होता गया है। शिथिल संघर्ष और संवेदनाच्युत संवाद के ऊपर, करैले पर नीम यह कि कहीं-न-कहीं हमारे मन में

इस संघर्ष एवं संवाद की अर्थहीनता भी अपना डेरा डाल चुकी है या फिर डोरा डाल रही है। सुविधा और संपन्नता की व्यक्तिकेंद्रिकता इतनी अधिक बढ़ गई है कि एक ही राज्य और राष्ट्र में रहने तथा एक ही संविधान से पोषित एवं शासित जनतंत्रात्मक व्यवस्था की अस्सी प्रतिशत से अधिक आबादी के लिए जो जीवन-स्थिति स्वर्ग की ही तरह काल्पनिक ही है, दो-चार प्रतिशत के लिए वह उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि है! साधारण आदमी के अंत:करण में विन्यस्त समता के सामाजिक स्वप्न का जिंदा प्रेत, अँधेरे में सनसनसता ब्रह्मराक्षस बनकर टहल लगा रहा है। बहुत ही भयावह है यह सनसनाहट। जानलेवा भी। विडंबना यह कि हत्या और आत्महत्या की गहरी घाटी से गुजरती हुई इस आबादी के दुखदर्द को सुनने की भी जिन्हें फुरसत नहीं है, उनको महसूस करने और दूर करने की भी अपेक्षा उन्हीं से करने की लाचारी अस्सी प्रतिशत लोगों की नियति बनकर रह गई है। क्या दो-चार प्रतिशत लोगों की लकड़बग्घा हँसी हम पर जनतंत्र के अंतिम क्षण में पहुँच जाने का राज़ जाहिर कर रही है? यह सब एक दिन में तो हुआ नहीं? आखिर राह भूले हैं कहाँ से हम? या विकास के जिस रास्ते पर हम चले वह शुरू से ही गले था ? क्या कहता है अरुणकमल के आत्मा का रोकड़ '' शुरु से गलत था मकान का नक्शा।''

इस मानव विकास रिपोर्ट के दूसरे निष्कर्ष का आशय है, मानव विकास के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए जिस प्रभावी नियंत्रण की जरूरत होती है उसका आधार जन के लिए जन के द्वारा अर्जित जनतंत्र के ढाँचे में नित्य विकसनशील अंतर्वस्तु रचती है। तीसरा निष्कर्ष इसी का पूरक है जो यह बताता है कि जन को शक्ति प्रदान करनेवाले जनतंत्र का संघटन ही किया जा सकता है, उसे आयातित नहीं किया जा सकता है। इतिहास गवाह है कि जन को शक्ति प्रदान करनेवाले जनतंत्र के संघटन का सपना किसी शांहशाह के शर की आँख में नहीं, सब से पहले जनता के साहित्य की आँख में उतरता है। इसके कारण हैं। निर्विशिष्ट जनगण का दुख सब से पहले साहित्य में अपना मुँह खोलता है। दुर्दुराया हुआ दर्द साहित्य में दर्ज होकर दवा बनता है। यह दुर्दुराया हुआ दुख साहित्य में कभी राम और कृष्ण जैसे मिथकीय व्यक्तित्व के होने का बाना गढ़ता है तो कभी होरी और धनिया के सामाजिक व्यक्तित्व का। ऐसे किसी भी चरित और चरित्र का सपना राजनीति की आँख में नहीं, साहित्य की आँख में पहले उतरता है। कहने की जरूरत नहीं है कि इसीलिए जन को शक्ति प्रदान करनेवाले जनतंत्र के संघटन को संभव बनाने की कारगर पहल करनेवाले सभी नहीं तो अधिकतर लोग साहित्य से ही राजनीति में आये। लोक और शास्त्र का द्वंद्व हर समय चलता रहता है, कभी मंद तो कभी तीव्र। शास्त्र सत्ता का ही दूसरा नाम है। प्रेमचंद साहित्य को राजनीति के आगे चलनेवाली मशाल कहते हैं। सच है सपना किसी भी यथार्थ से आगे चलता है। सपना हमेशा यथार्थ की कठोर भूमि पर पैर टिकाये रखकर भी अंबर पनघट से जीवन के लिए जरूरी रसायन का संग्रह करता है। सपना को सच करने का आधार राजनीति और अर्थनीति बनाती है। यहीं साहित्य राजनीति और अर्थनीति का नाभिनाल एक होता है।

हमारा जनतांत्रिक अनुभव बताता है कि जन को पराभूत कर तंत्र को मजबूत करनवाले भी कम नहीं हैं। ये लोग जनतंत्र से प्राप्त शक्ति का प्रयोग जनतंत्र के ही विरुद्ध करते हैं। चुनौती है, जन को सक्षम बनाने की। जन सक्षम हो तो जनतंत्र भी सक्षम हो जायेगा। जन और तंत्र के बीच में साहित्य अर्थात संवेदना माध्यम और मीडिया अर्थात सूचना माध्यम सक्रिय रहता है। साहित्य मन बनाता है और मीडिया मत। खराब मन में अच्छा मत बनाना संभव नहीं हो सकता है। इसलिए, साहित्य और मीडिया के अनुपूरक बनने के महत्त्व को नये सिरे से समझना जरूरी है। साहित्य में संवेदना अधिक और सूचना कम होती है। मीडिया में सूचना अधिक और संवेदना कम होती है। संवेदना और सूचना के मिल जाने से लोक को सक्षम बनाने का काम आसान हो जाता है। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान, साहित्य और मीडिया के सकारात्मक पहलू मिलकर जन को सक्षम बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा चुके हैं। अतीत में निभाया है तो आगे भी निभा सकते हैं। लेकिन, मीडिया के एक अर्थ में उद्योग बन जाने से साहित्य और मीडिया के बीच इधर एक नये किस्म का अंतराल बन गया है। पहले यह अंतराल इतना बड़ा नहीं था। इस अंतराल को समझना और कम करना जन को शक्तियुक्त करनेवाले जनतंत्र के गठन के लिए अनिवार्य है।

भारतीय

स्वतंत्रता संघर्ष का उद्देश्य सिर्फ अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करने के लक्ष्य से सीमित नहीं था। अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का रुख तो इसीलिए था कि उन्हें भारतीय स्वतंत्रता के उद्देश्यों को पूरा होने देने में एक अवरोधक के रूप में देखा जा रहा था। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष का भी उद्देश्य विश्व के किसी भी देश के स्वतंत्रता संघर्ष की तरह अपने राज और समाज को अपने हित में पुनगर्ठित कर एक नया 'हम' बनाने का था। इस नये 'हम' को फैलाकर लोकमय करने का था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोकमंगल की अवधारणा में आत्म-मंगल के भाव को भी स्वत: समाहित देखा जा सकता है। लोकमंगल में 'परोपकार' ही नहीं 'आत्मोपकार' भी उतने ही निखरे रूप में समाहित रहता है। कितना दुखद है कि साहित्य के लोकमंगलकारी चरित के नाम पर कुछ लोग और दल राजनीति कर रहे हैं। राजनीति के राम और साहित्य के राम में फर्क है। राजनीति के राम लोगों को भयभीत करते हैं। साहित्य के राम लोगों को भयमुक्त करते हैं। संस्कृति-चक्र की गतिशीलता को ध्यान में लाने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि सभ्यता के त्रास से बाहर निकलने के लिए ही सामान्यजन अपने धराधाम पर ईश्वर का आह्वान करते हैं। सामान्यजन की आस्था के ऐसे ईश्वर मानोवोचित आचरण करते हैं। इस प्रकार ईश्वर पर सामान्यजन की आस्था वस्तुत: मनुष्य पर आस्था का ही एक रूप होता है। यही आस्था उन्हें भयमुक्त करती है। ऐसे त्रस्त लोगों का साहित्य ईश्वर को मनुष्य बनाता है। साहित्य के लिए मनुष्य से बड़ा कोई

और आश्वासन नहीं होता है। जनतंत्र के लिए भी यही आश्वासन है। जबकि विशिष्टजन की आस्था ईश्वर में इसलिए होती है कि वे जन-आस्था के इस ईश्वर को विस्थापित कर उसकी जगह खुद की ईश्वरीयता को स्थापित करना चाहते हैं। ऐसे विशिष्टजन मनुष्य होकर भी ईश्वरोचित अलौकिक आचरण करने में अपने सक्षम होने को साबित करने के लिए नाना प्रकार के स्वाँग भरते रहते हैं। ऐसे लोगों का ईश्वर भयभीत करता है। यह जनतंत्र के लिए बहुत बड़ा खतरा होता है। तात्पर्य यह कि जनेश्वर और तंत्रेश्वर के अंतर को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। ईश्वर के वर्ग चरित्र की बात मानने में कठिनाई हो तब भी यह तथ्य तो बिल्कुल स्पष्ट ही है कि होरी के राम और राय साहब के राम एक ही नहीं हो सकते हैं । दूसरे के ईश्वर को प्रसाद कोई नहीं चढ़ाता!

जिस जन के सामने हर्ष-विषाद को नियंत्रित करनेवाली शक्तियाँ अमूर्त्त होती हैं उस जन का विश्वास ईश में होता है। जन के हर्ष-विषाद को नियंत्रित करनेवाली शक्तियों को जनतंत्र मूर्त्त करता है। मूर्त्तन का यह काम जितनी सफलता से संपन्न होता है जन का विश्वास उतनी ही तत्परता से जनतंत्र में अंतरित होता है। अपने देश में जनतंत्र के विकास के प्रारंभ से ही अमूर्त्तन को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति रही है। आजादी के आंदोलन के दौरान प्रभावी जन संपर्क स्थापित करने और लोगों में बलिदानी भाव जगाने की सदिच्छा से अलौकिक मुद्दों का सहारा लेने की भी व्यापक प्रवृत्ति काम कर रही थी। इस प्रवृत्ति के कारण आजादी के लिए उभरे और संगठित हुए जनआंदोलन की नाभिकीयता में, जाने-अजाने, आंतरिक विभाजन और विघटन के तत्त्व की भी घुसपैठ हो गई। इस घुसपैठ से स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध जन-आंदोलन की नाभिकीयता में हुए विचलन का खामियाजा देश को विभाजन और सांप्रदायिक दुष्टता के सदावास के रूप में भोगना पड़ रहा है। कभी दबे-छिपे तो कभी खुले आम देश के अधिकतर राजनीतिक दल किसी-न-किसी प्रकार से इस स्थिति का लाभ अपने-अपने हित अपने कर-पात्र में दूहते आये हैं। भगत सिंह ने इस खतरे को तभी भाँप लिया था। यह दुखद है कि जनतांत्रिक चेतना की व्यापक स्वीकृति बनाने में हम विफल रहे। इसके साथ ही विश्वास के ईश से जन में अंतरित होने का काम मंद होकर अंतत: बंद हो गया। और अब तो, इसकी विपरीत प्रक्रिया को ही हवा दी जा रही है। जिनका विश्वास जन से अधिक ईश में होता है स्वाभाविक रूप से उनका विश्वास जनतंत्र से अधिक ईशतंत्र में होता है। जनतंत्र का कठिन सवाल यह है कि जन को शक्ति प्रदान करनेवाले जनतंत्र के संघटन के अधूरे काम को क्या ऐसे लोगों के भरोसे एक पल के लिए भी छोड़ा जा सकता है?

समाज, साहित्य और संस्कृति का आपस में गहरा संबंध बताया जाता रहा है। हमारे हिंदी समाज और संस्कृति के जनतंत्र के संकट की अभिव्यक्ति हिंदी साहित्य में हुई है कि नहीं? अगर हुई है तो किन रूपों में? और आज हम सांस्कृतिक स्तर पर इस स्थिति को कैसे जी रहे हैं? आज की भूमंडलीय परिस्थितियों में ये सवाल बहुत जरूरी हैं। कबीर और तुलसी जैसे मध्यकालीन संत और भक्त कवि की अध्यात्म-चेतना में अनुस्यूत समाज-चेतना के अपने

सांस्कृतिक पक्ष के साथ ही हिंदी साहित्य का सिंहभाग इसका अकाट्य प्रमाण देता है कि हिंदी साहित्य आधुनिकता की परिधि में प्रवेश करते ही जनतंत्र के अवरोधक सवालों के साथ जी-जान लगाकर जूझने लगा था। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और उनकी मंडली के निबंधों को नये सिरे से देखा जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक आते-आते इस संदर्भ की चिंता में प्रौढ़ता और देशज समझ की सक्रियता को भी आसानी से पढ़ा जा सकता है। प्रमाण ही देना हो तो निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धूमिल, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, राजेंद्र यादव, अमरकांत, काशीनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, शेखर जोशी ही नहीं मंगलेश डबराल, चंद्रकांत देवताले, विष्णु खरे, राजेश जोशी, अरुणकमल, संजीव, शिवमूर्त्ति, उदय प्रकाश और बाद की पीढ़ी से भी भरोसेमंद लंबी सूची निकाली जा सकती है। सब की अपनी-अपनी खासियत और भिन्नता तो है लेकिन सामाजिकता और जनतांत्रिक मूल्यों के साहित्यिक संदर्भों की अपनी उल्लेखनीय समानता भी है। इस संदर्भ में प्रेमचंद और रघुवीर सहाय के साहित्य का अपना महत्त्व है। आजादी के पहले प्रेमचंद और आजादी के बाद रधुवीर सहाय के साहित्य की संघर्ष-चेतना की नाभिकीयता में जनतांत्रिक मूल्यों की प्रातिनिधिक सक्रियता का अंतर्वास मिलता है। ध्यान में होना ही चाहिए कि प्रेमचंद के साहित्य में आजादी को हासिल करने और सार्थक बनाने की चिंता अधिक थी तो रधुवीर सहाय के साहित्य में हासिल आजादी को टिकाये रखने और सार्थक बनाने की छटपटाहट अधिक थी। इसीसे जुड़ी यह बात भी ध्यान में रखी जा सकती है कि प्रेमचंद में ग्रामीण मन अधिक अभिव्यक्त होता है तो रघुवीर सहाय में नागर मन। इन दोनों के साहित्य के संदर्भ में आज के जनतांत्रिक संकट को अधिक अर्थपूर्ण ढंग से पढ़ा जा सकता है।

प्रेमचंद जैसे विश्वदृष्टि संपन्न महान साहित्यकार के साहित्यक-सांस्कृतिक संघर्ष और स्वप्न के आशय को समतामूलक विश्व-मानव-समाज की आकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में ही बेहतर ढंग से समझा एवं मनस्थ किया जा सकता है। साहित्यिक-सांस्कृतिक संघर्ष समाज के अंदर ही होते हैं इसलिए उस समाज को समझने का संवेदनात्मक साक्ष्य एवं आधार भी प्रदान करते हैं। ध्यातव्य है कि आधुनिक समय में राजनीतिक राष्ट्र के रूप में भारत और इस भारत के विभिन्न समाजों के साथ ही भाषाई समाज के रूप में हिंदी समाज के तात्त्विक गठन का प्रारंभ वैश्विक स्तर पर पारंपरिक उद्योगों के व्यापक विस्थापन के साथ औद्योगीकरण, फासीवाद के विरुद्ध वैश्विक संघर्ष एवं रूसी क्रांति से उत्पन्न समान्यजन के वैश्विक उत्साह के माहौल में ब्रिटिश उपनिवेश से मुक्ति-संघर्ष के दौरान हुआ। मुक्ति-संघर्ष के दौरान सक्रिय मुख्य प्रवृत्तियों का असर भारतीय राष्ट्र और हिंदी समाज दोनों के चरित्र में अंतर्भुक्त होता गया। जाहिर है भारतीय राष्ट्र, मुक्ति-संघर्ष और हिंदी समाज के बनाव और मनोभाव को इनके त्रैत-तनाव के

पारस्परिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। इस मुक्ति-संघर्ष के उत्तप्त समय में ही प्रेमचंद का साहित्य सृजित हुआ। इस त्रैत को समझने में प्रेमचंद का साहित्य और प्रेमचंद के साहित्य को समझने में यह त्रैत प्रमुख आधार उपकरण हो सकता है।

इस मुक्ति-संघर्ष के संदर्भ में इतिहासकार सुमित सरकार का कहना है, 'वस्तुतत: भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यत: आधुनिक संवृतियाँ हैं।' यह भी कि 'इस काल का अंतिम महत्त्वपूर्ण लक्षण था - भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं का विकास। बंगाल ने 1905 में आंचलिक भावनाओं का की शक्ति का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण दिया था, और 1917 में अपने भवानीपुर के भाषण में सी. आर. दास ने वही तार फिर झंकृत करने का प्रयास किया : बंगाली हिंदू, मुसलमान या इसाई हो सकता है किंतु वह रहेगा बंगाली ही।' डॉ.धीरेंद्र वर्मा सरीखे विद्वानों की यह मान्यता महत्त्व की थी,कि (जिस प्रकार) बंगाल के मुस्लमान बंगाली जाति के अंग हैं, (उसी प्रकार) हिंदुस्तान (हिंदी प्रदेश) के मुस्लमान हिंदुस्तानी जाति के अंग हैं । जिधर प्रगतिशीलों ने भी कभी सकर्मक और अपेक्षित ध्यान नहीं दिया।

इतिहासकार सुमित सरकार एक जगह लिखते हैं , 'यहाँ तक कि प्रेमचंद भी 1915 तक मुख्यत: उर्दू में ही लिखते रहे जब तक कि उन्हें प्रकाशक मिलने कठिन न हो गये। आर्यसमाजियों एवं रूढ़िवादी हिंदुओं द्वारा उठाए गये देवनागरी लिपिवाली हिंदी के आंदोलन की एक विशिष्ट लोकप्रिय अपील थी, क्योंकि फारसी-बहुल उर्दू अभिजात वर्ग भाषा रही थी। किंतु संस्कृतनिष्ठ हिंदी, जिसका अधिकाधिक प्रचार किया जा रहा था, और कुछ लोगों ने (ये कुछ लोग कौन थे? इसका उल्लेख श्री सरकार नहीं करते हैं!) जिसे राष्ट्र भाषा का दर्जा दिये जाने की भी माँग की, इस क्षेत्र की विभिन्न लोकप्रिय बोलियों (पंजाबी, हरियाणवी, पहाड़ी, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मागधी इत्यादि) से वस्तुत: बहुत भिन्न थी। सबसे भयानक बात तो यह थी कि भाषा और लिपि के मतभेदों को धीरे-धीरे धार्मिक मतभेदों से जोड़ा जाने लगा था जो संप्रदायवाद को जनमानस में कहीं और भी गहरे बिठा रहा था। इस प्रकार उत्तर और दक्षिण भारत में ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही थीं जो आजतक स्वतंत्र भारत के लिए चिंता का कारण बनी हुई है।' दूसरी जगह लिखते हैं, 'उत्तर भारत के अधिकांश में साहित्य की भाषा उर्दू ही रही।' सवाल उता है कि जो फारसी-बहुल उर्दू अभिजात वर्ग की भाषा रही थी उसी उर्दू में उत्तर भारत के अधिकांश साहित्य की समृद्ध परंपरा कैसे रची गयी और कैसे उसी परंपरा को समृद्ध माना गया? अभिजात वर्ग से बाहर के साहित्य का क्या हुआ? ध्यान यह भी रखना ही चाहिए कि उर्दू के पहले गद्यकार खुद प्रेमचंद ही थे, पहले पर आपत्ति हो भी तो बहुत प्रारंभिक गद्यकार मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सवाल यह भी है कि जब इस क्षेत्र की विभिन्न लोकप्रिय बोलियों, अर्थात पंजाबी, हरियाणवी, पहाड़ी, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी, मैथिली,

मागधी इत्यादि, अपने से भिन्न होने के बावजूद हिंदी को अपना लिया तब उर्दू को ऐसा करने में क्या दिक्कत हुई और क्यों हुई? सुमित सरकार कुछ भी स्पष्ट करने की आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं! क्यों? जिसकी समृद्ध परंपरा का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व इस काल में मुहम्मद इकबाल द्वारा होता है। तथापि, हिंदू पुनरुत्थानवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हिंदी की अपेक्षा उर्दू की स्थिति धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही थी। (किसी भी स्थिति के लिए बौद्धिक जल्दबाजी में पुनरुत्थानवाद को जबावदेह मानना, चाहे वे इसके लिए जबावदेह हों या न हों, पुनरुत्थानवाद को मजबूती देना नहीं है?) लोकप्रियता की दृष्टि से इसे कुछ सीमा तक इसे एक उपलब्धि कहा जा सकता था (जो साहित्यिक हिंदी के अत्यंत संस्कृतिनिष्ठ और बनावटी होने के कारण सीमित थी) किंतु यह सांप्रदायिक एकता के लिए एक आघात था। (सवाल तो यह भी है कि इतिहासकार से सांप्रदायिक एकता के आघात को पहचानने में कोई चूक तो नहीं हो रही है?) प्रेमचंद ने भी अपना लेखन कर्म उर्दू में ही आरंभ किया था, किंतु 1915 के बाद वे हिंदी में लिखने लगे थे क्योंकि उर्दू में प्रकाशक मिलने कठिन हो गये थे। लेकिन खुद प्रेमचंद (जमाना, दिसंबर 1930) कहते हैं ‘आप (हजरत नियाज) के खयाल में कोई हिंदू उर्दू लिख ही नहीं सकता चाहे वह सारी उम्र उसकी साधना करता रहे और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह माँ के पेट से लेकर आता है! ... मुसलमानों पर यह आम एतराज है कि उन्होंने हिंदू शायरों और लिखनेवालों का कभी सममान नहीं किया।’

प्रकार ‘राष्ट्रवाद’ के साथ ही ‘भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं का विकास’ और ‘भाषाई आधार पर संप्रदायवाद का विकास’ भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे। आजादी के बाद भाषा के सवाल को ठंढे बस्ते में डाल दिया गया। जबकि भाषा के सवाल का सूत्र ‘आंचलिक भावनाओं’, ‘राष्ट्रवाद’ और हिंदू-मुसलमान ‘संप्रदायवाद’ से सीधा जुड़ता था। प्रेमचंद, संस्कृति क्या है पर विचार करते हैं और 1931 में कहते हैं, ‘प्रत्येक प्रांत में हिंदू और मुसलिम जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-ब्याह की परिपाटी भी एक है। अवध या बुंदेलखंड के किसी मुसलिम या हिंदू किसान में ऐसा कोई अंतर न मिलेगा, जो एक को दूसरे से अलग कर सके।’ हिंदू-मुस्लिम एकता पर विचार करते हुए 1931 में ही प्रेमचंद ने लिखा था, ‘उर्दू - हिंदी का झगड़ा तो थोड़े-से शिक्षितों तक ही महदूद है। अन्य प्रांतों के मुसलमान उर्दू के भक्त नहीं और न हिंदी के विरोधी हैं। वे जिस प्रांत में रहते हैं, उसी की भाषा का व्यवहार करते हैं।..’

हिंदी समाज में प्रेमचंद के होने के अर्थ को समझना असल में हिंदी समाज को ही समझने का एक प्रभावी उपक्रम है। ध्यान में रखना होगा कि जिस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद

साहित्य में दाखिल हुए थे उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का मिजाज विश्व स्तर पर फासीवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध किये जानेवाले संघर्षों से बन रहा था। इस संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण प्ररिप्रेक्ष्य राजनीतिक राष्ट्र के रूप में भारत के गठन और ब्रिटश उपनिवेश से मुक्ति-संघर्ष के विभिन्न आयामों से भी बनता है। यह संघर्ष बाहरी और भीतरी दोनों ही तत्त्वों से रहा है। कुछ समय की शीत-निष्क्रियता और अंत:सक्रियता के बाद आज एक बार फिर नव-फासीवाद और नव-उपनिवेशवाद के बाहरी और भीतरी तत्त्व अपने ऐतिहासिक अनुभवों, वित्तीय-पूँजी की शक्ति और तकनीक की गति से संपन्न होकर अपने नये गठजोड़ के साथ प्रकट हो रहे हैं। भूमंडलीकरण, बाजारवाद और इनके सहमेल में विकसित उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव से अवसन्न समय में भारत फिर उन्हीं समस्याओं की जकड़न में फँसता जा रहा है जिन समस्याओं की जकड़न में फँसकर हमारा मुक्ति-संघर्ष विकलांग हो गया। हिंदी प्रदेश के बाहर इस या उस रूप में क्षेत्रीयतावाद सुगबुगा रहा है तो हिंदी प्रदेश इस या उस रंग की सांप्रदायिकता से लहुलुहान हो रहा है। सांप्रदायिकतावाद के कोलाहल के कारण क्षेत्रीयतावाद के पसरते हुए स्वर को एक प्रकार का आवरण भी हासिल हो जा रहा है। दुखद है कि आज भी कुछ लोग हिंदी को हिंदुत्व से ही जोड़कर देखने और दिखाने के उद्यम में लगे हैं। हिंदी समाज बाहरी भीतरी तत्त्वों की दुरभिसंधियों में फँस हुआ है। इस दुरभिसंधि से बाहर निकलने के लिए इसे कठिन मानसिक चर्या से गुजरना होगा। क्या है यह दुरभिसंधि और कैसी है यह कठिन मानसिक चर्या इसे समझने के लिए एक निर्मम आत्म-दृष्टि के विकास की सामाजिक जरूरत है। इस आत्म-दृष्टि का विकास विश्व-दृष्टि को खंडित करते हुए नहीं बल्कि उसके सहमेल में हो, यह सामाजिक चुनौती है। आत्म-दृष्टि और विश्व दृष्टि के सक्रिय और गत्यात्मक जादुई सामंजस्य को हासिल करने के लिए हिंदी समाज को प्रेमचंद के पास जाना होगा। हो सकता है सारे सवालों के जवाब प्रेमचंद के पास भी न हों लेकिन जवाब तलाशने की प्रक्रिया में प्रेमचंद के अपने पास होने का एहसास हमें सामाजिक बल पहुँचायेगा और हताशा के किसी आशंकित क्षण में ढाढ़स बँधायेगा।

प्रेमचंद और आज के सवालों पर विचार करने का सबसे महत्त्वपूर्ण और कारगर आधार यह भी है कि प्रेमचंद का साहित्य आजादी के लिए संघर्षरत गुलाम भारत में तैयार हुआ था और आज हम गुलामी की ओर बढ़ते आजाद भारत के सवालों को समझने की तैयारी में लगने की चुनौती के सामने दरपेश हैं। इस गुलामी का स्वरूप राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक औपनिवेशिकता के संदर्भों से विनिर्मित था और आजादी का संघर्ष उन से मुक्ति की आकांक्षा में अभिव्यक्त हो रहा था। इस बाहरी औपनिवेशिकता के समानांतर और उससे भी अधिक खतरनाक एक और औपनिवेशिकता भारत में सक्रिय रही है और वह है – आंतरिक औपनिवेशिकता। संस्कृति कर्म अपने स्वभाव में ही सामाजिक और जातीय कर्म हुआ करता है। कोई महत्त्वपूर्ण

लेखक जीवन को अनुपस्थित कर बनाये गये किसी प्रकार के एकांत में रहकर लेखन कार्य नहीं करता है, और न ही कर सकता है। प्रेमचंद जैसे महत्त्वपूर्ण लेखक के संदर्भ में तो ऐसा होने का कोई सवाल ही उत्पन्न नहीं होता है। अपने समय के और उससे पहले हो चुके महत्त्वपूर्ण और आम लोगों की भी संवेदना के वैचारिक सूत्रों से सर्जनात्मक स्तर पर जुड़े बिना समय का सकर्मक लेखन संभव ही नहीं होता है। प्रेमचंद और उनके पहले के समय के बड़े लोगों में कई महत्त्वपूर्ण व्यिक्तत्वों के कृतित्वों को अपने वैचारिक विश्लेषण के आधार रूप में स्वीकृत करना चाहिए। आधुनिक हिंदी का प्रत्येक बड़ा लेखक उस राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक उपनिवेश और आंतरिक उपनिवेश से अपने स्तर पर जूझ रहा था।

आज-कल लेखक सीधे साहित्य लिख रहे हैं! लेखक का काम लिखना है और वह लिखता है। उसके लेखन को साहित्य तो समाज ही बना सकता है और बनाता भी है। प्रेमचंद का महत्त्व इस बात में है कि राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक एवं आंतरिक उपनिवेश और उन उपनिवेशों से उत्पन्न समसयाओं से जूझते हुए ही उनका लेखन साहित्य बना था। इस आंतरिक और बाहरी दोनों ही प्रकार के उपनिवेश से उत्पन्न समसयाओं के विरुद्ध सतत संघर्ष करनेवाले हमारे सब से महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर का नाम प्रेमचंद है। प्रेमचंद और महात्मा गाँधी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में काम करते हुए इस आंतरिक उपनिवेश की असली चुनौती और उसके खतरों को गहराई से समझ रहे थे। बाहरी उपनिवेश से तो राजनीतिक औजारों से निपटा जा सकता है लेकिन आंतरिक उपनिवेश से निपटने के लिए अपनी जातीय संस्कृति के स्मृतिकोश से चयनित तत्त्वों से विनिर्मित कारगर सांस्कृतिक औजार ही उपयोगी हुआ करते हैं। हमारे जातीय संस्कृति के स्मृतिकोश में वैसे भी आत्मविरोधी तत्त्वों की भरमार है और ऊपर से उस कोश में औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा फैलाये गये प्रदूषणों के कारण उस समय आंतरिक उपनिवेश की चुनौती और भी बढ़ गई थी। यह भी कि आंतरिक उपनिवेश की स्थिति बाहरी उपनिवेश के लिए सदैव प्रभावी जगह बनाती है। महात्मा गाँधी और प्रेमचंद दोनों ही इससे अच्छी तरह से अवगत थे और अपनी-अपनी समझ के आधार पर सावधान थे। प्रेमचंद के भौतिक और सर्जनात्मक जीवन काल में ही मुख्य रूप से महत्मा गाँधी के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता के लिए महान ऐतिहासिक जनसंग्राम हुआ। यह जनस्वतंत्रता संग्राम आंतरिक और बाहरी दोनों ही प्रकार के उपनिवेश के विरुद्ध था। स्वराज से किसका हित होगा इस पर प्रेमचंद ने हंस के अप्रैल 1930 के अंक में लिखा : इसमें संदेह नहीं कि स्वराज का आंदोलन गरीब, किसानों का आंदोलन है। लेकिन इस जनस्वतंत्रता संग्राम की कतिपय सीमाओं को खुद महात्मा गाँधी भी अच्छी तरह समझ रहे थे और प्रेमचंद भी समझ रहे थे। दोनों को ही भय था कि कहीं मि. जॉन की जगह सेठ गोबिंदी के आ जाने तक का ही आधार बनकर यह जनसंग्राम न रह जाये। हम पाते हैं कि दुर्भाग्य से लगभग घटित भी यही हुआ।

इधर

अंतरराष्ट्रीय आवारा पूँजीवाद के गर्भ से निकले बाजारवाद के संपोषण के लिए नई आर्थिक नीति के नाम पर जारी तथाकथित उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण और विचारों के उत्तर-आधुनिकीकरण की खतरनाक चौवृत्त प्रक्रिया ने हमारे दुर्भाग्य को और बढ़ा दिया है। हम फिर नये सिरे से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उपनिवेश में बदलते जा रहे हैं और आंतरिक उपनिवेश की भी नई प्रक्रिया बड़ी तेजी से जारी है। दस-बीस करोड़ भारतीय शेष अस्सी-नब्बे करोड़ भारतीयों का अपना उपनिवेश बनाने पर आमादा हैं। इस तरह से प्रेमचंद के समय के सवाल और हमारे समय के सवाल के बुनियादी चरित्र में वस्तुगत समानता के बहुत सारे आधार हैं। जो थोड़ा-बहुत अंतर है वह कुछ तो संरचनागत तथा उसमें विकसित हो गये नये परिप्रेक्ष्य के कारणों से है और कुछ कारणों का संबंध विकास के नये संदर्भों में नये सिरे से जनमी समस्याओं से है। बहरहाल,ये सवाल क्या हैं? और प्रेमचंद ने इसे किस रूप में देखा था और रचनात्मक स्तर पर उससे निपटने की कैसी कोशिश प्रेमचंद ने की थी यह जानना न सिर्फ दिलचस्प, बल्कि शिक्षाप्रद भी हो सकता है। प्रेमचंद जैसे महान सांस्कृतिक व्यक्तित्व के संदर्भ से अपने समय के सवालों पर विमर्श करना कोई आसान काम नहीं है। यहाँ कुछ ही सवालों पर विचार किया जा सकता है तथा अपेक्षित गंभीरता एवं विस्तार से विचार किये जाने की जरूरत को रेखांकित करने की कोशिश की जा सकती है।

आजादी के इतने दिनों के बाद भी आंतरिक उपनिवेश के दलित संदर्भ से प्रेमचंद साहित्य पर विचार किये जाने पर हम सहज ही लक्षित कर सकते हैं कि प्रेमचंद दलितों और पिछड़ों के सवाल को भी आजादी के राजनीतिक आंदोलन के जनतांत्रिक प्रसंग में बहुत गहराई से समझ रहे थे और उसके रचनात्मक वितान का संवेदनात्मक आधार तैयार कर रहे थे। प्रेमचंद दलितों और पिछड़ों के सवाल को शेष समाज से अलग मानकर नहीं चलते थे। उनके दलित और पिछड़े चरित्र गैर दलित और अगड़े चरित्रों की तुलना में अधिक मानवीय, कारुणिक और तार्किक हैं, प्रतिरोधी और मुखर भी। समाज के सवाल हल नहीं हुए। दलितों के सवाल भी हल नहीं हुए। हल की संभावनाएँ भी दिनानुदिन धूमिल ही होती गई है। ऐसे में समाज में एक बहुत बड़ा अंतराल विकसित हो गया है। इतने बड़े अंतराल के बनने की आशंका प्रेमचंद के समय में उतनी साफ नहीं थी। यह सच है कि इतने बड़े अंतराल को लाँघ पाना हिंदी सामाजिकता के जनतंत्र के लिए असंभव ही साबित होता जा रहा है। इस खतरे को समय रहते ठीक से समझने का प्रयास नहीं किया गया तो हिंदी सामाजिकता के शीघ्र ही दुर्घटनाग्रस्त हो जाने की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने ध्यान दिलाया है कि यद्यपि विभिन्न पेशा के आधार पर जाति के गठन की सामाजिक जाति व्यवस्था रही है लेकिन किसानी जैसे महत्त्वपूर्ण काम को किसी एक जाति से नहीं जोड़ा गया है। लेकिन हम सभी जानते हैं कि जिसे वास्तव में जमींदारी और जिसे किसानी कहते हैं उस जमींदारी और उस किसानी से समाज के किस-किस तबके और जाति के लोग व्यावहारिक और कार्मिक स्तर पर जुड़े रहे हैं। अब अगर प्रेमचंद जमींदारों से अधिक किसानों को अपनी संवेदना से सींचते हैं तो क्या यह अलग से कहने की जगह बची ही रह जाती है कि वे दलितों और पिछड़ों के सामाजिक विकास के पक्षधर और किसी भी स्तर पर उनके शोषण के प्रखर विरोधी थे। सद्गति, मुक्तिमार्ग,ठाकुर का कुआँ, पूस की एक रात, कफन आदि कहानियाँ और होरी, हीरा,गोबर, धनिया,सिलिया, सूरदास, घीसू, माधो जैसे अगणित चरित्र का गठन क्या कहता है? एक कुलीन स्त्री कुएँ पर पानी भरने गई थी। संयोगवश वह कुएँ में गिर पड़ी। वहाँ खड़ी भीड़ में इतना साहस नहीं था कि कि कोई कुएँ में उतर पाता। हरिजन के कुएँ में उतरने से पानी अपवित्र हो जाता! परिणामत: वह महिला कुएँ में ही डूब कर मर गई। 14 मई 1933 को प्रेमचंद ने इस पर हिमाकत की हद शीर्षक छोटी-सी टिप्पणी लिखी, ठाकुर का कुआँ के साथ इस टिप्पणी को पढ़ने से उनकी दृष्टि का पता चलता है। अपने समय में हम पाते हैं कि भारतीय संविधान में प्रदत्त कतिपय प्रतिश्रुतियाँ जनता को हासिल नहीं हो पाई और समग्र रूप से आम आदमी अपने को इस व्यवस्था में ठगा हुआ महसूस करता है।

आजादी की लड़ाई के नतीजे को लेकर प्रेमचंद क्यों आशंकित थे? यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल हो सकता है। अप्रैल 1930 की उनकी टिप्पणी आजादी की लड़ाई गौर करने लायक है। अजादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं? इस पर विचार करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं : इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और युनिवर्सिटियों की कलई खोल दी । हमने आशा की थी कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्रवर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहाँ भी होगा; पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो, या वकील, या पोफेसर, या छात्र, सभी अंग्रेजी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उनकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार रहते हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्यानबे सैकड़े ग्रेजुएटों के लिए सभी द्वार बंद हैं; पर निराशा में भी आशा लगाये बैठे हैं कि शायद हमारी ही तकदीर जग जाये । देख रहे हैं, कि काँग्रेस के आंदोलन से ही अब थोड़े-से ऊँचे ओहदे हिंदुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझ बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या आत्म-गौरव नहीं, उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मंदोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। आज के शिक्षित लोगों के रवैये से इसे मिलाकर देखने

से कैसा दृश्य उभरता है? कैसा दीखता है भविष्य? साहित्य, समाज और जनतंत्र के संदर्भ में हिंदी समाज की शिक्षित युवा-शक्ति क्या अपने दायित्व को समझने में जरा भी सक्षम नहीं है! ऐसा नहीं हो सकता।

आजकल बहुराष्ट्रीय कंपनियों और बजारवाद का घमासान छिड़ा हुआ है। तरह-तरह के विचार हैं इस को लेकर। इस प्रसंग में प्रेमचंद के क्या विचार हो सकते हैं? देखये 28 अगस्त 1933 की उनकी टिप्पणी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद कर दो : फोर्टनाइटली रिविउ विलायत का प्रतिष्ठित पाक्षिक पत्र है। उसमें एक अंग्रेज अर्थशास्त्री ने यह विचार प्रकट किया है कि वर्तमान मंदी का मुख्य कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार है। फोर्टनाइटली रिविउ में एक अंग्रेज अर्थशास्त्री के इस लेख पर जिस में निष्कर्षत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद करने का आह्वान किया गया था, प्रेमचंद की टिप्पणी गौर करने लायक है : कहीं ऐसा हो जाये, तो भारत मूसलों ढोल बजावे। हाँ इंग्लैंड के लिए यह पतन का दिन होगा । लेकिन प्रेमचंद जानते थे कि ऐसा होने नहीं जा रहा है क्योंकि उन्हें (अंग्रेजों को) तो घन चाहिए, धन के लिए माल की खपत होना जरूरी है, और माल की खपत के लिए निर्बल देशों का होना लाजिमी है। मात्रात्मक प्रतिबंध हट जाने के बाद डंपिंग की आनेवाली समस्या से प्रेमचंद की इस राय को मिला कर पढ़ने से क्या यह आज भी उतना ही प्रासंगिक नहीं लगता है!

सूचना विस्फोट और शताधिक दूरदर्शन चैनलों के साथ इक्कीसवीं सदी में हम आये हैं। प्रेमचंद के समय न तो सूचना का विस्फोट था और न ही जनता के मनोरंजन के लिए इतने सारे चैनल थे, तो भला इसमामले में प्रेमचंद के क्या विचार हो सकते हैं? लेकिन प्रेमचंद के विचार हैं और बड़े गंभीर हैं! देखिये 22 जनवरी 1934 की टिप्पणी देहातों पर दया-दृष्टि । कर्नल हार्डिंग गाँवों में ब्रॉडकास्टिंग के प्रचार का प्रयास कर रहे थे। इसी संदर्भ में प्रेमचंद की यह टिप्पणी है। मिलाइये अपने समय के दूरदर्शन चैनलों के वर्तमान और आशंकित प्रचार-प्रसार की नीति से। टिप्पणी का एक अंश : बिल्ली बख्शे, मुर्गा लंडूरा ही रहेगा। जिनके पास न खाने को अन्न है और न पहनने को वस्त्र, वह ब्राडकास्टिंग सुनकर अपना मनोरंजन न करेंगे तो कौन करेगा? व्यापार चलाने की कितनी बढ़िया नीति है। यह व्यापारी मानवी प्रकृति की दुर्बलताओं को खूब समझते हैं और खूब अपना मतलब गाँठते हैं। मनोविज्ञान उनकी व्यवसाय-बुद्धि का मुख्य साधन है। कल्लोंच से कल्लोंच आदमी में भी आमोद-विनोद की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवसायी उसी स्थल पर अपना निशाना लगाता है और शिकार मार लेता है। हम जानते हैं कि अमेरीका जैसे देश की राष्ट्रीय आय का बड़ा जरिया यह मनोरंजन उद्योग ही है। दूरदर्शन के संजाल का विस्तार समाचार, विचार या धारावाहिकों के माध्यम से संवेदना के सत्व के प्रसार के लिए नहीं बल्कि व्यापार के विस्तार के लिए उपभोक्ता सामग्री की परिचिति बढ़ाने और पूँजी की माया को फैलाने के लिए हुआ है।

ऐसे में, आज पूरा भारतीय राष्ट्र आत्ममंथन की तीव्र प्रक्रिया के सम्मुख खड़ा है। इतिहास के तहखानों से हथियारों को निकालकर दुरुस्त किया जा रहा है। प्रेमचंद का समय भारत में राष्ट्रबोध के नये बनाव का समय था। समाज में चली आ रही रीति-रिवाजों और लोकाचार की परंपरित मान्यताओं को नये सिरे से परखने और माँजने की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा था। समग्र प्रयास यह था कि भारतीय समाज के नये गठन का मुख्य आधार न तो परंपरा का श्रद्धा-पक्ष और न औपनिवेशिकता का वाह्य-पक्ष बने बल्कि अंतर्विवेक और उससे अनुप्रमाणित, अनुप्रेरित एवं अनुप्राणित श्रद्धा-पक्ष और वाह्य-पक्ष का कारगर तत्त्व बने। दीवार में खिड़की खोले रखने की बात के लिए सभी महत्त्वपूर्ण लोग न सिर्फ सहमत थे बल्कि सक्रिय भी थे। आज की परिस्थति से मिलायें तो, अंतर्विवेक को तो पूरी तरह निष्क्रिय कर देने की ही परियोजना पर काम किया जा रहा है। ऐसे में विकल्प दो ही बचते हैं – स्वदेशी के नाम पर परंपरा का श्रद्धा-पक्ष या फिर दुनिया के ताल से ताल मिलाकर नाचने के लिए भूमंडलीकरण के नाम पर वाह्य-पक्ष। दोनों खतरनाक, जनतंत्रविरोधी और शोषण के पक्षधर एक आंतरिक उपनिवेश के औजार तो दूसरे बाहरी उपनिवेश के हथियार। एक में कुँए में मरने की नौबत तो दूसरे में समुद्र में मरने की स्थिति!

राजनीतिक विकास और सांस्कृतिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह भी है कि राजनीतिक विकास की दिशा बाहर से भीतर की ओर अंतरित होती है जब कि सांस्कृतिक विकास की दिशा भीतर से बाहर की ओर उन्मुख होती है। भीतर और बाहर का यह द्वंद्व मानव मन में हमेशा सक्रिय रहा करता है। भीतर का उछाल बाहर को बदलता है तो बाहर का भी दबाव भीतर को बदल देता है। प्रेमचंद के समय में बाहर और भीतर के द्वंद्व में न सिर्फ राजनीतिक-आर्थिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट का प्रभाव काम कर रहा था बल्कि सांस्कृतिक-बौद्धिक उपनिवेश से भी मुक्ति की छटपटाहट का प्रभाव भी काम कर रहा था। राजनीतिक-आर्थिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट से देश में जनतंत्र के औपचारिक गठन का मार्ग खुल रहा था। सांस्कृतिक-बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट से देश में राष्ट्रबोध के नये सामाजिक बनाव का आधार उभर रहा था। सांस्कृतिक-बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट में आंतरिक उपनिवेशी प्रवृत्तियों को समझने और उससे संघर्ष करने की चेतना भी सक्रिय थी। राजनीतिक आधार के बनाव में तत्कालीन स्थितियों में सामाजिक जीवन को अधिक प्रीतिकर बनाने के लिए लिये जानेवाले निर्णयों का योगदान होता है। सांस्कृतिक आधार के बनाव में परंपरा के प्रवाह का अपना प्रभाव होता है। राजनीति व्यवहार का आधार बनाती है। संस्कृति चरित्र का आधार बनाती है। प्रेमचंद के समय में राष्ट्रबोध के राजनीतिक आधार के साथ-साथ सांस्कृतिक आधार भी बन रहे थे। द्विराष्ट्रीयता के विचार के साथ ही और किन्हीं अर्थों में उससे सहबद्ध भी, उप-राष्ट्रीयता एवं स्थानापन्न राष्ट्रीयता का विचार भी पूंजीभूत हो रहा

था। द्विराष्ट्रीयता का विचार तो तभी इतनी तेजी से और इतना अधिक पूँजीभूत हो गया कि उसके विस्फोट से अंतत: भारत विभाजन की त्रासद घटना ने जन्म लिया। इस त्रासद घटना के कारण उप-राष्ट्रीयता एवं स्थानापन्न राष्ट्रीयता का विचार-पूँज तात्कलिक रूप से अदृश्य और अप्रभावी तो हो गया, लेकिन दुखद है कि विलोपित कभी नहीं हुआ। अब यह पुंज बड़ा होकर मगरमच्छ के थुथून की तरह बीच-बीच में प्रकट हो रहा है। राष्ट्रवाद के सांस्कृतिक आधार पर ही क्षेत्रीयतावाद विकसित होता है। इसलिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और विघटनकारी क्षेत्रीयतावाद में घनिष्ठ संबंध होता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का संबंध संप्रदायवाद से भी होता है। इसलिए क्षेत्रीयतावाद और संप्रदायवाद दोनों से ही एक साथ निपटना होगा। इस संघर्ष में ध्यान यह रखना ही होगा कि क्षेत्रीयतावाद और संप्रदायवाद दोनों सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कोख में ही पलते हैं। इस समय की भारतीय राजनीति की प्रभावी समकालीन संरचना पर ध्यान देने से यह बात और साफ हो जाती है। इस समय एक राष्ट्र के रूप में भारत समकालीन राजनीति के फासीवादी रुझान और सामाजिक पिछड़ेपन की गिरफ्त में फँसा हुआ है। इस दु:स्थिति के लिए कभी प्रत्यक्ष रूप से तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी समाज को ही दोषी ठहराया जाता है। हिंदी समाज के प्रति इस तरह की धारणा नई नहीं है। यह खंडित सच ही है। लेकिन दुखद तो यह है कि हिंदी समाज अपनी इस प्रचारित छवि को समझने और बदलने की गंभीर कोशिश भी नहीं करता है।

रघुवीर सहाय हिंदी कविता के आधुनिक भावबोध के कवि हैं। यह आधुनिक भावबोध एक बार फिर गंभीरतापूर्वक विवेचनीय है।आधुनिक भावबोध की अवधारणा दिनानुदिन अधिक जटिल होती गई है। इसकी जटिलताएँ जीवन और यथार्थ में बढ़ती हुई कुहेलिकाओं के प्रभाव से प्राणरस पाती हैं। इधर विकास के नये मुहावरे के कारण जो अर्थाभास जीवन में रच-बस गया है इससे भी आधुनिकता के भावबोध में उलझाव पैदा हुआ है। उत्तर-आधुनिकता के नाना उद्घोषों के कारण विमर्श के वातावरण एवं भाषा और शब्दों के अर्थाचरण तथा अर्थान्विति में गुणात्मक परिवर्त्तन के घटित होने से भी आधुनिकता की जटिलताएँ बढ़ी हैं। आधुनिक भावबोध के गतिमान प्रसंगों को समझना आधुनिक भावबोध की किसी भी रचना को समझने की बुनियादी शर्त है। जनतंत्रीय चेतना, सत्ता केंद्रित किसी राजनीतिक प्रक्रिया विशेष तक ही सीमित नहीं रहती है बल्कि यह जनतंत्रीय चेतना ही आधुनिक जीवन के भावबोध और सौंदर्यबोध का हीर है। इस जनतंत्रीय चेतना का प्रकाश और प्रसार विभिन्न अवसरों पर जीवन के विभिन्न प्रसंगों, रूपों, रंगों में विभिन्न ढंगों से वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन-व्यवहार में अपने लिए प्रभावी जगह बनाता है। ‘‘सबार उपरे मानुष सत्य ‘‘ की आध्यात्मिक चेतना में मनुष्यमात्र की जिस सम्मान और समानता की आकांक्षा का प्रकाश हमें देखने को मिलता है, उसको जीवन-व्यवहार के रूप में बरत पाने के लिए अनिवार्य सामाजिक परिगठन को हासिल

करने की पद्धति भी जनतंत्र ही रचता है। निश्चित ही व्यावहारिक जनतंत्र की अपनी सीमा है। इस सीमा को भारतीय जनतंत्र के प्रसंग में, आजादी के लिए किये जानेवाले संघर्षों के उत्कर्ष के दिनों में ही लोग कुछ-कुछ पहचानने लगे थे। जनतंत्र की सीमाओं की यह पहचान जो संघर्ष के दौरान शंका और अवधारणा के रूप में थी सार्थक और संवेदना संपन्न संवाद के नैरंतर्य के अभाव में धीरे-धीरे लोकमान्यता और अनुभव में बदलती गई। अपने ही देश में आम लोगों के बेगानेपन की स्थिति बनने की लोकमान्यता का प्रमाण अनुभव और अवधारणा दोनों से मिलने लगा था। आजादी के हासिल होने के दो दशक के अंदर इसे रघुवीर सहाय ने सघन संवेदनात्मक स्तर पर लक्षित कर लिया था जिसकी तार्किक और मूर्त्त अभिव्यिक्त उनकी कविताओं में होने लगी थी। ''बीस वर्ष/ खो गये भरमे उपदेश में/ एक पूरी पीढ़ी जनमी पली पुसी क्लेश में/ बेगानी हो गयी अपने ही देश में'' (मेरा प्रतिनिधि: आत्म हत्या के विरूद्ध: 67)। ऐसे बेगानेपन के कारण किसी भी संवेदनशील मनुष्य के मन में एकाकीपन या अकेलेपन का घर कर जाना स्वाभाविक है। साहित्य और संस्कृति जैसी सामाजिक सरोकार की गतिविधियों से जुड़े हुए लोगों में इस अकेलापन का लक्षण पहले प्रकट होना भी अस्वाभाविक नहीं है, न ही किसी प्रकार का अग्रकथन या अतिकथन ही है।

अकेलेपन की विडंबना के आकार ग्रहण करने में ''जन'' को अवहेलित कर चलनेवाली राजनीति का अपना योगदान तो होता ही है। साथ ही, इस ''जन'' के संवेदनात्मक सरोकार के बदले निर्लिप्त एवं निस्संग किस्म के पयर्वेक्षणात्मक एवं सैद्धांतिक निष्कर्षों को साधकर सृजन-प्रेरित होने की प्रवृत्ति से भी साहित्य के सरोकारहीनता के दलदल में फँसते चले जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। साहित्य में सरोकारहीनता के बढ़ते प्रभाव में समाज में सरोकारहीनता के बढ़ते प्रभाव को भी लक्षित किया जाना चाहिए। प्रेमचंद के समय में मुक्ति की चाह में छटपटाहट का जो दर्द था, वह दर्द मर गया। दर्द का मर जाना यहाँ रोग के समाप्त हो जाने का लक्षण नहीं है। रोगी की मृत्यु? नहीं-नहीं अभी यह रोगी के बेहोश हो जाने का ही लक्षण है। ''मैं पूछ रहा हूँ इसलिए यह बार-बार/ वह दर्द कहाँ मर गया रोज़ जो होता था/ जिससे वह एकाकी भी तड़पा करता था/ वह बल, कविता ने पाठक से क्यों छीन लिया?'' (आज की कविता: कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ:1989)। दल और फिर दलदल में फँसी आज की हिंदी कविता के बाहर निकलने का रास्ता भी शायद इस तड़प के आस-पास से ही निकलता हो, खोज की जानी चाहिए। ''इतना दुख मैं देख नहीं सकता।/ कितना अच्छा था छायावादी/ एक दुख लेकर वह एक गान देता था/ कितना कुशल था प्रगतिवादी/ हर दुख का कारण वह पहचान लेता था/ कितना महान था गीतकार/ जो दुख के मारे अपनी जान लेता था/ कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में/ जहाँ मरता है सदा एक और मतदाता।'' (कोई एक और मतदाता: आत्म हत्या के विरूद्ध : 67)। नागरिक का मतदाता में ही नहीं अब तो इस मतदाता का भी उपभोक्ता में,

लघुमित (रिड्युस्ड) होकर रह जाना जनतंत्र के संकोचन और क्षरण का लक्षण और कारण दोनों है। लोकतंत्र का यह हिंदुस्तानी अनुभव बहुत त्रासद है। यहाँ तो जमात के जमात अपने मताधिकार ही नहीं जीवनयापन के भी अधिकार के प्रयोग से इस या उस कारण से बंचित होते रहे हैं। हिंदी पट्टी की राजनीति से जनता निरंतर अनुपस्थित की जाती रही है। हिंदी पट्टी की राजनीति से जनता के अनुपस्थित होते जाने की प्रक्रिया की समझ हिंदी साहित्य से पाठकों के अनुपस्थित होते चले जाने के कारणों का भी कुछ खुलासा कर सकती है। जातिवाद के जिस जंजाल में हिंदी पट्टी अभी फँसी हुई है उससे आम जन को उबारने की तो बात ही दूर हिंदी का बौद्धिक मिजाज खुद ही इससे बहुत उबर नहीं पाया है, ऊपर से साहित्यिक महत्त्वाकांक्षाएँ तो अपनी जगह हैं ही। ''शासन को बदलने के बदले अपने को/ बदलने लगें और मेरी कविता की नकलें/ कविता जायें/ बनिया बनिया रहे/ बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे/ पर जब कविता लिखे तो आधुनिक/ हो जाये। खीसें बा दे जब कहो तब गा दे।'' (स्वाधीन व्यक्ति : आत्म हत्या के विरूद्ध : 67)।

अनुभव में आनेवाले जनतंत्र की सीमाएँ स्पष्ट हैं, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि सीमा विहीन तो अंतरिक्ष और आकाश भी नहीं होता है। हर हासिल की सीमा होती है। जनतंत्र की सीमाएँ और उसकी त्रुटियाँ उसको बरतने की व्यावहारिकता की सीमाएँ और त्रुटियाँ हैं। जनतंत्र के व्यवहार की सीमा को जनतंत्र की अंतिम सीमा मानकर चलने और इसलिए जनतंत्र के प्रति उदासीन होने से जीवन के और अधिक विपन्न हो जाने की आशंकाओं के लिए घर बन जायेगा। यह याद रखने और इससे सावधान रहने की जरूरत पहले से कहीं ज्यादा आज है। क्योंकि आज जनतांत्रिक पद्धति से प्राप्त सत्ता के शिखर से ही जनतंत्र के मिजाज को बदलने की न सिर्फ जनतंत्र-रोधी कुचेष्टा जारी है बल्कि अन्य सहयोजी स्वार्थी तत्त्व भी इसको जीवन की मूल चेतना से विस्थापित और विच्युत करने का षड़यंत्र रचने के लिए बड़ी बुद्धिमत्ता से अपनी इस परियोजना पर काम कर रहे हैं। अपने व्यवहार की तमाम सीमाओं के बावजूद जनतंत्र आधुनिक जीवन-पद्धति की क्रियाशीलता की धुरी है। उपलब्ध पर संदेह, संदेह की तर्कशील जाँच, गहन तार्किकता, हर प्रकार की संभव समानता, जाति-नस्ल-रंग-लिंग-धर्म आदि से निरपेक्ष मानवाधिकारों के प्रति विशेष आग्रह एवं अनुराग, व्यापक अर्थ की वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी सोच आधुनिकता का प्राणाधार है। इस प्रणाधार के सातत्य को बनाये और बचाये रखने में जनतंत्र की राजनीतिक और उससे भी अधिक सामाजिक संघर्ष और संवाद की प्रक्रिया का अपना महत्त्व है, इस पर विभिन्न तरीकों से घात किया जा रहा है, इनकी सार्थकता को ही प्रश्नांकित किया जा रहा है। हर प्रकार की संभव समानता की विकल चाह ही राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया के अंतर्गत नित्य विकसनशील जनतंत्र का मूलाधार होता है। सामंतवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण की प्रक्रिया की सामाजिक

वैधता का आधार भी सीमित समानता की इसी संभवना में अंतर्निहित रहा है। एक सीमा के बाद कालांतर में पूँजीवाद अपनी अंतर्निहित चारित्रिक दुष्टता के कारण श्रम-पूँजी और धन-पूँजी में जरूरी संतुलन बनाये रखने की जगह धन-पूँजी के प्रति बनते अतिरिक्त झुकाव के चलते इस संभव समानता के प्रति बहुत दायित्वशील बना नहीं रह पाता है। इस स्थिति में, श्रम-पूँजी और धन-पूँजी के अंतराल से पहले अपेक्षाकृत धीरे-धीरे और बाद में तेजी से चौड़ी और गहरी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विषमताओं का जन्म होता है। रघुवीर सहाय कहते हैं, ‘‘लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते : इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपने आंतरिक संघर्ष की जाँच के लिए कवि अपनी रचना लाता है चाहे रचने के एकांत के बीच में से उठकर ही क्यों न आना पड़े। ‘‘ (‘‘लोग भूल गये हैं’’ पहले संस्करण की भूमिका 14 जनवरी 1982)। बाद में इसे बढ़ाते हुए आगे जोड़ते हैं, ‘‘संभव है कि विस्मृति का यह दौर अपने साथ एक मक्कारी और चालाकी ले आये और इतिहास को तोड़-मरोड़कर वर्तमान के पतन का गुणगान करे जैसा आज कर रहा है; पर यही समय है कि निराशा में अपने कर्तव्य को न खोजकर, झूठी आशा या खोखले शब्द को कविता बनाकर उस आदमी को धोखा न दे, जो आज चाहे निरक्षर हो पर कल हर कविता को पढ़कर उससे एक नई कविता बनायेगा और वह वर्तमान कविता से अधिक बड़ी और सच्ची होगी। कविता शब्द का निरा संस्कार नहीं है। न वह वर्तमान की निरी व्याख्या है, न इतिहास का निरा पुनरावलोकन और न अतीत से भविष्य के निरे अंतरावलंबन का औचित्य। इन सबके समेत वह कुछ है तो साहस है जो हमारे जाने बिना दूसरे को मिलता है बशर्ते कि वह दूसरा हमारी कविता में हो।’’ (‘‘लोग भूल गये हैं’’ दूसरे संस्करण की भूमिका 9 जनवरी 1989)। समस्या यह है कि हमारे बोलने से न टूटे सत्ता का तिलस्म लेकिन हमारे अंदर की कायरता तो पहले टूटे तब न वह दूसरा हमारी कविता में आये और साहस पाये! ‘‘जिन्होंने मुझ से ज्यादा झेला है/ वे कह सकते हैं कि भाषा की जरूरत नहीं होती/ साहस की होती है’’ (दो अर्थों का भय : हँसो हँसो जल्दी हँसो : 1975) यह वही साहस है जिसके अभाव में शब्द के मर जाने की सूचना केदारनाथ सिंह की कविता भी देती है। सामाजिक जीवन में इस सार्थक साहस के अभाव के कारण नाना प्रकार की विषमताओं के चिरस्थाई होने से सामाजिक-ब्लैकहोल का निर्माण होने लगता है। इस सामाजिक-ब्लैकहोल में जनतंत्र सहित आधुनिकता के सारे मूल्यबोध समाने लगते हैं।

आवारा पूँजीवाद और लोकतंत्र दोनों बहुत समय तक एक साथ नहीं चल सकते हैं। क्योंकि सही दिशा में ‘‘लोकतंत्र का विकास राज्यहीन समाज की ओर होता है/ इसलिए लोकतंत्र को लोकतंत्र में शासक बिगाड़कर

राजतंत्र बनाते हैं।'' (लोकतंत्र का संकट :एक समय था:1995) ध्यातव्य है कि गलत दिशा में आगे बढ़कर इस राज्यहीन समाज के जनतंत्र का पर्यवसान बाजार पोषित धनतंत्र में होता है, यह धनतंत्र पूँजीवादी साम्राज्यवादी शक्तियों का नवराजतंत्र ही तो है। चूँकि जनतंत्र में साधारण नागरिक समझ की भी अपनी एक साझी भूमिका होती है इसलिए जनतंत्रात्मक राज्य से जनकल्याणकारी भूमिका की भी अपेक्षा बनती है। अपनी इसी जनकल्याणकारी भूमिका के अंतर्गत जनतंत्र पूँजीवाद को नियंत्रित कर उसके आवारा मिजाज पर लगाम कसता है। लेकिन इधर हाल के दिनों में जनतंत्र को बिगाड़ते हुए राज्य नवपूँजीवाद के प्रति समर्पित होता चला गया है और अब नवपूँजीवाद अधिक अनियंत्रित होकर कहीं अधिक आवारापने का आचरण करने लगा है। इससे, संभव समानता की तो बात ही छोड़िये विषमता के कम होने या उसकी बाढ़ के रुकने की भी कोई आशा बची हुई नहीं दीखती है। अनियंत्रित आवारा पूँजी के आतंक से जनमी ऐसी स्थिति में, सामाजिक-ब्लैकहोल की बढ़ी हुई सक्रियता और भयावहता की अभिव्यिक्त आतंकवाद और अपराध के नाना रूपों में होती है जिसकी चपेट में प्राकृतिक पर्यावरण समेत मानवीय समाज के सारे संकाय आ जाते हैं। इतिहास के साथ-साथ भूगोल के भी आत्मसंगुंफन में विघटक तनाव उत्पन्न हो जाता है। संस्कृति विकसित होकर प्रकृति से भिड़ने लगती है। सामान्य बुद्धि कहती है, जब हमले के निशाने पर सीधे जन हो तब जनतंत्र की चिंता कौन करे! लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है कि जन और जनतंत्र दोनों का प्राण समता के एक ही तोते में बसता है। जिन्हें जन की चिंता है उन्हें अनिवार्यत: जनतंत्र की चिंता भी करनी ही होगी। एक विषम समाज में न तो जनतंत्र के लिए कोई प्रभावी जगह बची रह पाती है और न आधुनिकता ही के लिए कोई अनुराग बचा रह पाता है। समाज की हालत उस रोगी की तरह की हो जाती है जो सन्निपात की चपेट में पड़कर दवा को ही जहर मानने की भूल कर बैठता है। आधुनिकता और लोकतंत्र में ही इस ढहती सभ्यता का बचाव है, इसे पहले से अधिक गंभीरतापूर्वक समझे जाने की जरूरत आज है।

आधुनिकता के इस परिप्रेक्ष्य में हिंदी के आधुनिक भावबोध के कवि रघुवीर सहाय के कविता संसार को देखना शशधर, तारा विहीन इस गहन अंधकार में भूले हुए पथ के संधान की आशा की बची हुई किरण की तलाश भी है। यह देखना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण और शिक्षणीय हो सकता है कि लोकतंत्र पर मँडराते हुए खतरे को रघुवीर सहाय ने किस तरह समझा था; संवेदना के स्तर पर नागरिक की तरह उसे किस तरह भोगा था और संस्कृति के स्तर पर किस प्रकार उसे कविता में अभिव्यक्त किया था। ''आत्म हत्या के विरुद्ध'' (प्रथम संस्करण: 1967) की भूमिका में रघुवीर सहाय ने लिखा ''लोकतंत्र --मोटे,बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इन्सान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।''

जनतंत्र के दिखाये हुए स्वप्न और जनतंत्र के द्वारा उपजाये हुए यथार्थ के अंतर्विरोध के बीच ही वह मकतल बनता है, जहाँ इन्सान की शानदार स्वप्निल जिंदगी में कुत्ते की मौत के यथार्थ का दखल बढ़ता जाता है। समकालीन समय के सामाजिक सरोकार से जुड़े किसी भी कवि के लिए रघुवीर सहाय की कविता प्रेरणा और प्रमाण तो बनती ही है, कई बार चुनौती भी बनती है। राजनीतिक और सामाजिक जनतंत्र के भारतीय अनुभव के परिप्रेक्ष्य में रघुवीर सहाय की कविता का अर्थ वितान और संवेदना का विस्तार विशेष रूप से पठनीय है। रधुवीर सहाय की कविता खुद राजनीतिक और सामजिक लोकतंत्र के विकास का एक सांस्कृतिक अनुभव है।

कविता में भाषा के बरताव का रघुवीर सहाय के पास एक नितांत देशी अनुभव और सरोकार है। रघुवीर सहाय की कविता में आकर भाषा ज्ञान-प्रसार, भाव-प्रसार, संवेदना-विस्तार, प्रचार, अभिव्यक्ति और मनोरंजन का साधन मात्र न होकर सामाजिक रचाव का ऐसा औजार हो जाती है जिसका कोई विकल्प नहीं होता है। भाषा की इस भूमिका को ध्यान में रखा जाये तो इस के समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा मानवशास्त्र में श्रम-पूँजी और धन-पूँजी से लेकर मेधा-पूँजी तक के समावेश को भी हम सहज ही लक्षित कर सकते हैं। रघुवीर सहाय की कविता की भाषा सतह पर चाहे जितनी सरल क्यों न लगे उसकी संकल्पना की जटिलता को समझे बिना न तो वह सरलता समझ में आ सकती है और न ही उसकी अर्थवाचकता की व्याप्ति। सामान्यत: रघुवीर सहाय की कविता की अभिधेयात्मकता इतनी शिक्तशाली और संप्रेष्य होती है कि कई बार पाठक को उससे आगे बढ़कर उसकी व्यंजनाओं के विभिन्न प्रस्तावों में से किसी एक के अपनाव के मोह और दोलन में पड़ने की आस्वाद-प्रक्रिया के सम्मुखीन होने की जरूरत ही नहीं होती है। लेकिन कोई आगे बढ़कर और कई बार उद्धत होकर भी विभिन्न अर्थ-छवियों एवं व्यंजनाओं की पाठकीय जिद के साथ ही उसे पढ़ना चाहे तो उसे भी निराश नहीं होना पड़ता है। भाषा सामाजिकता और सभ्यता का पोशाक नहीं त्वचा है। भाषा न सिर्फ समाज और सभ्यता के एक बिंदु पर होनेवाली हलचल की सूचना और संवेदना सामाजिकता और सभ्यता के बौद्धिक-संकाय तक पहुँचाती है बल्कि उसकी जीवनी शक्ति और सौंदर्य-शक्ति को भी सुगठित और संरक्षित करती है। सामाजिकता और सभ्यता के विकास क्रम के प्रवाह में आये स्वाभाविक विलगाव की प्रक्रिया के अंतर्गत ही जिस प्रकार एक भाषा के गर्भ में पलती हुई दूसरी भाषा उससे बाहर निकलकर एक नये भाषिक प्रस्थान की संभावना रचती है, उसी प्रकार एक सामाजिकता के गर्भ में दूसरी सामाजिकता पलती है और नये सामाजिक परिगठन का प्रारंभ करती है। सामाजिकता और सभ्यता के विलगाव के साथ ही भाषा का विलगाव भी होता है। भाषा का लोप या प्रयोग-च्युत होना किसी-न-किसी सभ्यता और सामाजिकता के निजत्व के लुप्त और प्रयोगबाह्य हो जाने की भी सूचना करता है। त्वचाहीन शरीर न तो सुरक्षित रहता है, न सुगठित और न बहुत देर तक जीवित ही रह पाता है।

सभ्यता और सामाजिकता की विकास-धारा और भाषा की विकास-धारा का ऐतिहासिक प्रवाह साथ-साथ ही गतिमान रहता है और दोनों को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य एवं संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

सामाजिकता और सभ्यता के विलगाव के अपने नाना प्रकार के कारण होते हैं और उसके अपने परिणाम भी नाना प्रकार के होते हैं। किसी समाज को जानने के लिए इन कारणों और परिणामों को पहचानना और जानना बहुत जरूरी होता है। इसी पहचान और संज्ञान से सभ्यता का इतिहास बनता है। इन कारणों को पहचानने के क्रम में एक बात यह समझ में आती है कि मनुष्य अपने परिवृत्त में समता को सुनिश्चित किये बिना आश्वस्त नहीं रह पाता है। समानता और विषमता की प्रभावी सापेक्षता अपनी सामाजिकता के परिवृत्त में ही समतुल्य होती है। जब किसी समाजिक परिवृत्त में विषमता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसका किसी भी प्रकार से निस्तार संभव नहीं रह जाता है तब मानवीय चेतना अपनी विषमतारोधी शक्ति और विषमता की सहनीयता को कायम रखने एवं समानता की अपनी आकांक्षा की संतुष्टि के लिए एक नये परिवृत्त के परिगठन की ओर उन्मुख होती जाती है। इस नये परिवृत्त से नई सामाजिकताओं के परिगठन का प्रारंभ होता है। विभिन्न सामाजिकताओं के आपसी वाद-विवाद-संवाद से वृहत्तर मानवीय समन्वयात्मक-सभ्यता में एक प्रकार का संतुलन बना रहता है और बाहरी तौर पर छोटे-मोटे संघर्षों के जारी रहने पर भी वृहत्तर मानवीय समन्वयात्मक-सभ्यता की नाभिकीयता अक्षुण्ण बनी रहती है। भूमंडलीकरण के माहौल में आज की एक बड़ी समस्या यह है कि विषमता भी बढ़ रही है और साथ ही सामाजिकताओं के परिवृत्त की परिधियाँ भी ध्वस्त होती जा रही हैं। समानता के अभाव में इन परिधियों का ध्वस्त होना सामाजिकताओं की व्याप्ति में आ रहे किसी प्रकार के विस्तार या एकीकरण का आधार न रचकर सामाजिक अतिक्रमण, प्रतिक्रमण की त्रासद प्रक्रिया को जन्म देता है। ऐसे में, सामाजिकता एवं सभ्यता के नये परिगठन के तमाम रास्ते भी बंद होते जा रहे हैं। जीवन यापन की विभिन्न सामाजिक शैलियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। संस्कृति के विभिन्न उपादान विलुप्त होते जा रहे हैं। संचार माध्यमों के सहारे बाजारवाद की इस विलोपीकरण प्रक्रिया के अंतर्गत विकासमान एवं विकसित सामाजिकता और सभ्यता मूलत: एक त्वचाहीन सामाजिकता और सभ्यता होती है। जिससे एक और प्रकार की विकृति जन्म लेती है। इच्छा स्वतंत्र्य के बिना नैतिकता का कोई आधार नहीं बनता है। आज इच्छा स्वतंत्र्य का आधार निरंतर छोटा होता जा रहा है, स्वभावत: नैतिकता विस्थापित होती जा रही है। दुख के कारण जितने बढ़ रहे हैं, दुख को सहने की शक्ति उतनी ही कम होती जा रही है। इसलिए भूमंडलीकरण की दोहरी मार के कारण विषमता आज अधिक तीखी और असह्य होती जा रही है।

प्रफुल्ल कोलख्यान: अंतिम क्षण में जनतंत्रः **पृ. 25, कुल पृ. 27**

सामाजिकता और भाषा का विकास साथ-साथ और एक ही प्रक्रिया के अंतर्गत होता है। जब सामाजिकताएँ विलुप्त हो रही हैं तो स्वभावत: भाषाएँ भी उसी प्रक्रिया के अंतर्गत विलुप्त होती जा रही हैं। भाषाओं के विलोपीकरण के सामजिक फलितार्थ और उसके समाजशास्त्र को मिलाकर देखने पर वृहत्तर समन्वयात्मक मानवीय सभ्यता की इस समस्या के चेहरे की हल्की-सी झलकी हम पा सकते हैं। ''भाषा की मृत्यु'' में जब रघुवीर सहाय कहते हैं, ''भाषा को शक्ति दो यह प्रार्थना करके/ कवि माँगता है बचे रहने का वरदान'' (01.7.72 :एक समय था: 1995) तो उसके मर्म को समझना जरूरी हो जाता है। भाषा को शक्ति देने की प्रार्थना कर (सामाजिकता के) बचे रहने का वरदान पा लेने के कवि के विश्वास के मर्म को समझा जा सकता है। रधुवीर सहाय जिस विश्वास के कवि रहे हैं उस विश्वास पर टिके लोग ''प्रार्थना घर'' के विज्ञापनी मिजाज को भी जानते हैं इसलिए प्रार्थनाओं के भरोसे चुप नहीं बैठ सकते हैं। संघर्ष के पथ की भी तलाश करते हैं। ''वही लड़ेगा अब भाषा का युद्ध/ जो सिर्फ अपनी भाषा में बोलेगा/ मालिक की भाषा का एक शब्द भी नहीं/ चाहे वह शास्त्रार्थ न करे जीतेगा/ बल्कि वह शास्त्रार्थ नहीं करेगा'' (भाषा का युद्ध: एक समय था: 1995)। यहाँ ''भाषा'' अपने व्यापक अर्थ में वृहत्तर समन्वयात्मक मानवीय सभ्यता के अंतर्गत अपनी सामाजिकता के संदर्भों को भी प्रतिभासित करती है। हरिचरना और श्री हरिचरण के बीच बनती एवं बढ़ती हुई विषमता की भयावहता को संवेदना के स्तर पर समझना ही होगा। अंग्रेजी, हिंदी आदि ''भाषाओं'' को संदर्भित करते हुए उससे अलग भी हरिचरना और श्री हरिचरण की ''भाषा '' अर्थात बचे रहने के समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के भी अलग होने की सूचना देती है। स्वाभाविक है कि भाषा का युद्ध अपनी अर्थवाचकता में सामाजिक संघर्ष के व्यापक परिप्रेक्ष्य को भी शामिल करता है। जिनके जीवन-शास्त्र अलग-अलग होते हैं उनके बीच शास्त्रार्थ, विमर्श के वस्तु की सामाजिक संवेदना को अर्थहीन बनाने, भटकाने के लिए एक प्रकार का बौद्धिक छल ही निर्मित करता है। संपन्न लोगों के विकसित जीवन-शास्त्र के बौद्धिक छल का शिकार बनता है विपन्न लोगों का विकासशील जीवन-शास्त्र। यह ठीक उसी तरह होता है जैसे विकसित देशों के अर्थशास्त्र का शिकार बनता है विकासशील देशों का अर्थशास्त्र। इस शास्त्रार्थ को शास्त्रार्थ नहीं करके ही जीता जा सकता है। इसलिए वह शास्त्रार्थ नहीं करेगा । रघुवीर सहाय की सुनें तो शास्त्रार्थ की यह तमीज देश और समाज दोनों ही स्तर पर हमें हासिल करनी होगी। इसीलिए, इस सवाल का जवाब दिये बिना निस्तार नहीं है कि ''राष्ट्रगीत में भला कौन वह/ भारत -भाग्य -विधाता है/ फटा सुथन्ना पहने जिसका/ गुन हरचरना गाता है.'' (अधिनायक: आत्म हत्या के विरूद्ध: 67)।

आज पूरी दुनिया लोकतंत्र पर आये नये खतरे से अपने ढंग से जूझ रही है। आर्थिक भूमंडलीकरण हो या बाजारवाद, आतंकवाद हो या साम्राज्यवादी प्रसार नीति की नई आकांक्षा, उत्तर-आधुनिकता का शोर हो या फिर किसी प्रकार की धार्मिक या अन्य आधार की कट्टरता सबका संबंध जन को उसकी सामाजिकताओं से विच्छिन्न करने, सामान्य नागरिक अधिकारों से उसे वंचित करने और राष्ट्रीय लोकतंत्र के विभिन्न पक्षों पर आघात करनेवाली शक्तियों और प्रवृत्तियों से अवश्य ही है। ऐसे में जनतंत्र? ''निर्धन जनता का शोषण है/ कह कर आप हँसे/ लोकतंत्र का अंतिम क्षण है कह कर आप हँसे/ सब के सब हैं भ्रष्टाचारी/ कह कर आप हँसे चारों ओर बड़ी लाचारी/ कह कर आप हँसे'' (आप की हँसी: हँसो हँसो जल्दी हँसो: 1975)। और समाज? '' यह समाज मर रहा है इस का मरना पहचानो मन्त्री/ देश ही सब कुछ है धरती का क्षेत्रफल सब कुछ है/ सिकुड़ कर सिंहासन भर रह जाये तो भी वह सब कुछ है/ राजा ने मन में कहा जो राजा प्रजा की दुर्बलता को नहीं पहचानता/ वह अपने देश को नहीं बचा सकता प्रजा के हाथों से'' (हैं: हँसो हँसो जल्दी हँसो: 1975)। क्या सचमुच हम अपने आस-पास प्रजा से देश को होनेवाले खतरों से डरे हुए, जनतंत्र का अंतिम क्षण है कहकर हँसनेवाले और सामाजिकताओं के मरने पर मोद मनानेवाले को थोड़ा भी नहीं पहचान पा रहे हैं? पहचान का यह प्रश्न हिंदी समाज के लिए तो प्रमुख सांस्कृतिक प्रश्न है ही, विश्व-समाज की संस्कृति का भी यह मूल प्रश्न प्रतीत होता है।

किसी आदर्श के, बिना किसी नायक के किसी सामाजिकता की गत्यात्मकाता में आत्मीयता का कोई प्रसंग नहीं जुड़ता है। इसका एक कारण यह है कि आदर्श और नायक से ही लोगों के मनोजगत का तादात्मीयकरण संभव होता है। आज हमारे पास जो हैं, वे सिर्फ छलनायक हैं। वे उसी को बेहिचक छल लेते हैं जिनका उनके साथ तादात्मीयकरण होता है। यह सभ्यता और संस्कृति जैसे अंतिम क्षण में पहुँच रही है— दबे पाँव, धीरे-धीरे । इस अंतिम क्षण में अँधेरा बहुत घना है। जोरावरों के जोर से चलनेवाली यह सभ्यता जनतंत्र की चाहे जितनी उपेक्षा करे, अंतिम क्षण में बचायेगा इसे यही जनतंत्र।